



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 5.2
 IJAR 2017; 3(1): 910-915
 www.allresearchjournal.com
 Received: 23-11-2016
 Accepted: 29-12-2016

डॉ० अशोक कुमार

ल० न० मि० वि०, दरभंगा,
 साहित्याचार्य, बी० एड० ग्राम एवं
 पत्रालय—बेलामेध,
 भाया—दलसिंहसराय,
 जिला—समस्तीपुर, बिहार, भारत

सर्वसुख का आधार—गर्भाधान संस्कार

डॉ० अशोक कुमार

प्रस्तावना—

सर्वसुख का आधार—गर्भाधान संस्कार है। जिसे करके लोग कैसे सभी प्रकार के सुखों को प्राप्त कर लेते हैं और मोक्ष को भी प्राप्त कर लेते हैं ? इतना ही नहीं यह संस्कार वाजपेय यज्ञ का फल कैसे देता है ? यहाँ तक कि एक मात्र भोजन को पवित्र कर लेने से कैसे बहुत सें सुखों को प्राप्त कर लेते हैं और मुक्ति को पा लेते हैं ? उक्त संस्कार हमें तीनों प्रकार के ऋणों से कैसे मुक्त कराता है ? यह संस्कार काम से संबंधि जो भी अपराध है उससे कैसे बचाता है ? परिवार समाज में आदर और सम्मान कैसे दिलाता है और संस्कारी कहलाता है ? देश को एक योग्य परिवार समाज के साथ सुयोग्य मानव संसाधन कैसे प्रदान करता है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान से सर्वसुख का आधार—गर्भाधान संस्कार को सिद्ध करेंगे।

गर्भाधान संस्कार करने की इच्छा मात्र से धार्मिकता का विकाश एवं भौतिकता नाश होता है। जो गृहस्थ पुरुष इन्द्रियनिग्रह पूर्वक ऋतुकाल में अपनी स्त्री से समागम करते हैं वह अमोघवीर्य्य होकर उत्तम सन्तान उत्पन्न करते हैं, और जो पुरुष तप, ब्रह्मचर्य्य और सत्य का पालन करते हैं उन्हीं के लिये यह संसार ब्रह्मलोक है।^[1] स्त्री में यज्ञ की कल्पना कर उसे यज्ञ के समान पवित्र समझ कर उसके साथ बरतता है। उस गर्भाधान संस्कार (यज्ञ) करने हारे को वाजपेय यज्ञ से जितना फल होता है उतना फल इस पुरुष को होता है।^[2] आचार्य शंख के अनुसार संस्कारों से संस्कृत तथा अष्ट गुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक पहुँचकर ब्राह्मपद को प्राप्त करता है और फिर वह कभी च्युत नहीं होता है।^[3]

मार्कण्डेय पुराण में देवी की स्तुति करते हुये देवता कहते हैं—“हे देवि, सारी विद्यायें तुम्हारे ही भिन्न—भिन्न स्वरूप हैं। संसार में जितनी स्त्रियाँ हैं वे सब तुम्हारी ही मुतियाँ हैं। एक मात्र तुमने ही इस विश्व को व्याप्त कर रखा है।” तब ही तो आचार्य कहते हैं—“स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः”। इनमें धर्म, अर्थ, लक्ष्मी तथा लोक भी प्रतिष्ठित हैं। स्त्री के साथ ही मनुष्य धर्माचरण करने में प्रवृत्त होकर सफलता पाता है। बिना सहधर्मिणी के पुरुष धर्माधिकारी नहीं हो सकता।^[4] पत्नी धर्म सहचरी ‘तारिणी दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम्’ बतलाया गया है। वह पातिव्रत्य—प्रभाव से स्वयं लक्ष्मी बनकर पति को साक्षात् विष्णु बना देने में समर्थ है।^[5] यदि विधिवत् गृहस्थ—धर्म का पालन हो तो पास—पड़ोस ही नहीं, समग्र सुख—शान्तिमय बन सकता है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि दस उपाध्यायों से बढ़कर एक आचार्य होता है, सौ आचार्यों से बढ़कर एक पिता होता है और एक हजार पिताओं से बढ़कर एक माता होती है।^[6] माता के समान संसार में दूसरा गुरु नहीं।^[7] गृहस्थ और सुख का तो मूल ही भार्या होती है।^[8] भार्या को सर्वदुःखों की एकमात्र औषध कहा गया है।^[9] जिस कुल में स्त्री पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है और जहाँ विरोध, कलह होता है, वहाँ दुःख, दरिद्रता और निन्दा निवास करती है।^[10] इसी बात को हदीस में कहा गया है—“वह स्त्री जिसका पति उससे रात्रि में और प्रत्येक रात्रि में प्रसन्न रहता है उस स्त्री को जन्त में स्थान मिलेगा।”^[11]

ऋणों से मुक्ति—ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि ‘जरयमानो ह वै पुरुषास्त्रिभिर्ऋणवान् जायते’। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी उत्पन्न होता है। मनु महाराज कहते हैं कि ऋषि—ऋण, देव—ऋण और पितृ—ऋण—इन तीन ऋणों का शोधन कर अपना चित्त मोक्ष में लगाना चाहिये। तीन ऋणों से बिना छुटकारा पाये मुक्ति मार्ग का आश्रय लेने से मानव का पतन हो जाता है। अतएव स्वाध्याय द्वारा ऋषि—ऋण, यज्ञ—साधन द्वारा देव—ऋण और पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ—ऋण से सदगृहस्थ मुक्त होते हैं।^[12] अतः गर्भाधान संस्कार (पुत्रेष्टियज्ञ) करने से देवऋण, यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म के ज्ञान—विज्ञान के प्रचार—प्रसार करने से ऋषिऋण और दिव्य संतान उत्पन्न करने से पितृऋण उन्मूलन होते हैं। तीनों प्रकार के ऋणों से एक गर्भाधान संस्कार (पुत्रेष्टियज्ञ) से ही अदा होते हैं।

Corresponding Author:

डॉ० अशोक कुमार

ल० न० मि० वि०, दरभंगा,
 साहित्याचार्य, बी० एड० ग्राम एवं
 पत्रालय—बेलामेध,
 भाया—दलसिंहसराय,
 जिला—समस्तीपुर, बिहार, भारत

संस्कार में अग्निहोत्र की प्रधानता रहती है। जल, वायु आदि प्राकृतिक देवता हमारा नित्य कल्याण करते रहते हैं। यही इनका हम पर ऋण होता है। इस ऋण से हम तभी छूटते हैं, जब हम जल, वायु आदि को यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म के द्वारा शुद्ध कर दें। यज्ञायोजन लगभग सभी धर्म के लोग करते हैं।^[13] भले ही यज्ञ का रूप भिन्न-भिन्न हो। यथा मुसलमान, यहूदि अगरबत्ति और धूप जलाकर, ईसाइ मोमबत्ति जलाकर अपने संस्कार को संपन्न करते हैं। जिससे देव ऋण से उच्छ्रय होते हैं। जो स्वर्ग लोक को ले जाने वाला है। जैसा कि कहा गया है—स्वर्ग कामो यजेत, यज्ञौ वै श्रेष्ठतं कर्म।^[14]

जिस क्रिया से यह सब कुछ किया जा सकता है, उस कर्म का नाम पुत्रेष्टियज्ञ है। कहने का मतलब यह कि जहाँ देवऋण और ऋषिऋण, कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ से अदा होते हैं। वहाँ पितृऋण गर्भाधान संस्कार से दिव्य संतान उत्पन्न (पुत्रेष्टियज्ञ) करने से पितृऋण अदा होता है। अर्थात् सब प्रकार के ऋण यज्ञों से ही अदा होते हैं।

इस प्रकार वेदों ने भी पुत्र के उत्तम माहात्म्य को कहा है। इसलिये पुत्र का मुख देख करके मनुष्य पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है।^[15] पौत्र का स्पर्श करके मनुष्य तीनों (देव, ऋषि, पितृ) ऋणों से मुक्त हो जाता है, (इस प्रकार) पुत्र-पौत्र और प्रपौत्र से यमलोको का अतिक्रमण करके स्वर्ग आदि को प्राप्त करता है।^[16] हे खग! सवर्ण पुरुषों से सवर्णा स्त्रियों में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे औरस पुत्र कहे जाते हैं और वे ही श्राद्ध प्रदान करके पितरों को स्वर्ग प्राप्त कराने के कारण होते हैं।^[17]

बृहदारण्यक उपनिषद् में मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक तीन लोकों के स्वरूप और उन पर विजय प्राप्ति के साधनों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। याज्ञवल्क्य ऋषि जब अपनी पत्नी कात्यायनी को आत्मज्ञान का उपदेश दे चुके, तब देवी के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया कि सुख प्राप्ति के लिए मनुष्यलोक को, शान्ति प्राप्ति के लिए पितृलोक को और आनन्द प्राप्ति के लिए देवलोक को किस प्रकार जीता जा सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि कहते हैं—जो व्यक्ति केवल सुख के पीछे भागता रहता है, वह मनुष्यलोक की स्थिति में है। जो शान्ति की कामना में व्यग्र है, वह पितृलोक में विचरण करता है। जो आनन्द प्राप्ति चाहता है, उसे देवलोक का यात्री समझना चाहिए। सुख की प्राप्ति का स्थान मनुष्य लोक है और इसकी प्राप्ति पुत्र से ही हो सकती है, अन्य किसी कर्म से नहीं।^[18] मनुष्यलोक—विजय का साधन पुत्र ही है। इसका फलितार्थ यह है कि मनुष्यलोक में सुख की उपलब्धि का साधन पुत्र ही है। अर्थात् जो उत्तम मनुष्य है, वही सुख का अनुभव कर सकता है और पुत्र ही इसमें सहायक हो सकता है।

पुण्य, धर्म और कल्याण का कोई एक भी कार्य जीवन को सुगन्धि युक्त बना देता है। श्री कृष्ण भगवान कहते हैं—धर्म का थोड़ा भी आचरण भारी संकट से बचानेवाला होता है।^[19] इसी के अनुकूल गीता में कहा—हे प्रिय अर्जुन ! शुभकर्म करनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।^[20]

अब यह स्पष्ट हो गया कि उत्तम पुरुष वह है कि जो सब प्रकार के पापों के निराकरण और पुण्य मार्ग पर चलने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि इस लक्ष्य की प्राप्ति पुत्र की सहायता से ही हो सकती है, अन्य किसी उपाय से नहीं। ऋषि के शब्द हैं—मनुष्य लोकः पुत्रेणैव जय्यः नान्येन कर्मणा। इसका अभिप्राय है—पुत्र से ही मनुष्य लोक जीता जा सकता है, अन्य किसी कर्म से नहीं। 'पुत्र' शब्द केवल लड़के के लिए नहीं, किन्तु लड़का-लड़की दोनों के लिए वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तकार कहते हैं—पुत्र से पुत्री का भी ग्रहण है।^[21] निरुक्तकार की पुष्टि में सृष्टि के आदि में स्वयम्भू के वंशज मनु ने कहा है कि दोनों—पुत्र-पुत्री का धर्मानुसार दायभाग होता है।^[22] पुत्र का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है—(9) "पुन् नाम नरकस्तस्मात् त्रायत इति पुत्रः"—इस प्रकार की

व्युत्पत्ति तथा 'पुम्' नामक नरक से त्राण कराने वाला होने के कारण पुत्र है—ऐसा निर्वचन प्राप्त होता है। इस प्रकार जन्म से पुनीत पुत्र 'पुनातीति पुत्रः' पवित्र करने वाला होने के कारण पुत्र है।

आध्यात्मिक तल की "त्रिचक्र" ("स्परिच्युएल फिर्नामिना" अथवा "पूडशियल फिर्नामिना") सन्तान द्वारा मानव के संसार में विजयशील होने में कोई सन्देह नहीं है। ऐसी सन्तान के सम्बन्ध में ही नीतिकार कहते हैं—किसी पवित्र स्थान पर जिस माता-पिता ने कठोर तप किया है, उसका पुत्र आज्ञाकारी, गुणयुक्त, धर्मात्मा और बुद्धिमान होगा।^[23] जिसका पुत्र विद्यायुक्त, नीतिपालक, उत्तम वाणी वाला, सदाचारी, उत्तम बुद्धि युक्त हो—ऐसे माता-पिता निश्चय ही जगत् को जीत लेते हैं।^[24]

याज्ञवल्क्य ऋषि ने "पुत्र द्वारा ही मनुष्य लोक जीतने"—अर्थात् उत्तम मनुष्य बनने का साधन सन्तान को बताकर गृहस्थी के लिए एक अमूल्य शिक्षा का निर्देश किया है। माता-पिता यदि अपने उत्तराधिकारी के रूप में अपने से अधिक श्रेष्ठ सन्तान छोड़ जाते हैं, तब निश्चय ही, वह अपने गृहस्थ जीवन को सफल कर जाते हैं। इसे ही 'योग्य माता-पिता की योग्यतर सन्तान' कहा जाता है। याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि गृहस्थी का विजय-पथ यही है "नान्येन कर्मणा"—अन्य किसी कर्म से नहीं।

स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है—गर्भाधान से लोग सुयोग्य संतान पाकर सद्गति प्राप्त करते हैं। क्योंकि संतान के बिना पितर नरक को जाते हैं। क्योंकि जब तक उच्छ्रय नहीं होते तब तक उसे उच्छ्रय होने के लिए पुनः जन्म लेना पड़ेगा। पितृ-ऋण से भी उच्छ्रय होकर स्वर्ग को जाते हैं। प्रसिद्धि पाता है—क्या राम पुत्र के कारण दशरथ और कौशल्या अमर नहीं हो गये ? क्या कृष्ण सदृश सन्तान ने अपने माता-पिता वसुदेव और देवकी को शाश्वत काल के लिए विख्यात नहीं कर दिया?

मानसिक प्रसन्नता पाता है—संतानहीन का प्रातः दर्शन अशुभ मानते हैं। इससे दम्पति को मानसिक कष्ट होता है। लेकिन संतानयुक्त दम्पति मानसिक रूप से प्रसन्न होते हैं। इस संस्कार से दिव्य, तेजस्वी बालक का निर्माण होता है। जो अथर्ववेद के अनुसार—पुत्र पिता का अनुव्रत तथा माता के मन को सन्तुष्ट करने वाला होता है।^[25] सुख-शांति प्राप्त करता है—गीता में कहा गया है कि संसारिक तपों (दुखों से) जले हुए का तीन ही शांति के कारण है—पत्नी, पुत्र और सज्जनों की संगति।^[26]

तलाक का अंत एवं सुखी परिवार की स्थापना—विदेशों में पति-पत्नी के सम्बन्धों में शिथिलता और तलाक की अधिकता पाये जाने के कारणों में संतति-निरोध भी एक कारण है। अधिकतर वे ही पति-पत्नी तलाक लेते हैं, जिनकी कोई संतान नहीं है अथवा जिनकी बहुत कम संतान है। कारण कि संतान पैदा होने से पति-पत्नी सम्बन्ध दृढ़ होता है और वे माँ-बाप के रूप में एक श्रेष्ठ पद को प्राप्त करते हैं। परंतु संतति-निरोध से पति-पत्नी का सम्बन्ध शिथिल होकर केवल काम-वासना की पूर्ति के लिये सीमित हो जाता है। स्त्री को माँ का ऊँचा दर्जा प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत वह पुरुष के लिये भोग्य बनकर रह जाती है, जो कि उसके पतन का चिन्ह है। जब पति-पत्नी के सम्बन्ध शिथिल हो जाते हैं, तब समाज में तलाक, व्यभिचार आदि दोषों की अधिकता हो जाती है, जिसका परिणाम भयंकर दुःखदायी होता है।

स्वार्थ का अन्त—ब्रह्मचर्य-आश्रम में बालक की दृष्टि अपने पर होती है, वह अपने सिवा किसी को कुछ नहीं समझता। वह पढ़ता है, लिखता है, खाता है, पीता है, सोता है, और अपने आत्मा, मन, शरीर को बनाता है। उसे किसी की कोई चिन्ता नहीं, संसार के धन्धों से उसे कोई सरोकार नहीं। वह एक दृष्टि से 'स्वार्थ' का नमूना है। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ-आश्रम आता है। अब वही व्यक्ति जिसे किसी का फिक्र नहीं था, अब पत्नी की चिन्ता करता है, पत्नी भी पति की चिन्ता करती है। अपने बच्चों और पति को पहले खिलाती है, खुद पीछे खाती है। गृहस्थाश्रम में

आकर वह स्वार्थ का पाठ भूल रहा है, परार्थ का पाठ सीख रहा है; स्वार्थ से दूर होता जाता जा रहा है, परार्थ के निकट पहुँच रहा है। पिता हो जाने के बाद वह बिल्कुल स्वार्थ-हीन हो जाता है। उसकी अपनी इच्छा कोई नहीं रहती, अपना स्वार्थ नहीं रहता, अपने बच्चों की इच्छाएँ, उनकी जरूरतें ही उसकी इच्छाएँ और उसकी जरूरतें बन जाती हैं।^[27] इस प्रकार योग्य इन्सान बनने के साथ स्वार्थ का अन्त हो जाता है।

आहार शुद्धि से छल-कपट-बेईमानी, भ्रष्टाचारादि का अन्त एवं मोक्ष की प्राप्ति-महर्षि दयानन्द कहते हैं-माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक नशादि पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करे, वैसे घृत, दुग्ध मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करे कि जिससे रज-वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तमगुणयुक्त हों।^[28] भोजन के रस से ही शरीर, प्राण और मन का निर्माण होता है। मलान चित्त में देवता और मन्त्र के प्रसाद का उदय नहीं होता। अशुद्ध भोजन से रोग, क्षोभ और ग्लानि होती है। शुद्ध भोजन से मन पवित्र होता है। अन्याय, बेईमानी, चोरी, डकैती आदि से उपाजित दूषित अन्न द्वारा शुद्ध चित्त का निर्माण होना असम्भव है।

सूक्ष्म शरीर का संस्कार मातृ-पितृ-वंश-परम्परा पर आधारित होने पर भी वर्तमान शरीर में खान-पान पर विशेष निर्भर करता है।^[29] स्थूल शरीर माता-पिता के खान-पान, बुद्धि-विचार आदि के अनुसार निर्मित शुक्र एवं रज के ऊपर निर्भर करता है, अतः इस संस्कार में आहार से सुसंतान एवं परम शांति एवं मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है।

भारतीय संस्कृति यह मानती है कि भोजन की शुद्धि होने पर मानव के सत्त्व की शुद्धि होती है और अन्तःकरण निर्मल एवं पवित्र हो जाता है। अन्तःकरण की शुद्धि होती है।-‘आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।’ इतना ही नहीं, सत्त्व की शुद्धि होने पर स्मृति दृढ़ हो जाती है और स्मृति के ध्रुव हो जाने पर हृदय की ग्रन्थियों (सन्देह दुविधा, अस्थिरता) का भेदन होता है और मुक्त हो जाता है-सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।^[30] इस प्रकार अन्न की शुद्धि की बहुत महिमा है। इसीलिये भारतीय सनातन संस्कृति ने अन्न एवं आहार की शुद्धि पर विशेष बल दिया है। ‘अन्नयमँहि सोम्य मनः’ अर्थात् हे सोम्य! अन्न से ही मन बनता है। जैसा अन्न खाया जाता है वैसा ही मन हो जाता है और तदनु रूप ही बुद्धि, भावना, विचार एवं कल्पना शक्ति निर्मित होती है। सनातन आदर्श यह रहा है कि ईमानदारी की कमाई ही खायी जाय; बेईमानी, असत्य तथा धोखेबाजी से अर्जित जीविका से बचा जाय। अथर्ववेद कथन है पुण्य से कमाया हुआ धन ही मनुष्य को समृद्धि दे सकता है। जो पापयुक्त धन है, उसको मैं नाश करनेवाला जानूँ।^[31] न्यायोपार्जित द्रव्य से प्राप्त अन्न ही ग्राह्य है। इसी को शास्त्रों में सात्त्विक धन कहा गया है। न्यायपूर्वक प्राप्त द्रव्य ही शुद्ध द्रव्य है। भगवान् ने कहा है-जो आहार स्वादु, स्निग्ध, स्थिर, गुणप्रद और मनोहर-इन सब गुणों से युक्त हो तथा जिसके सेवन से आयु, सात्त्विक बुद्धि, शारीरिक बल, आरोग्य, शारीरिक सुख, मानसिक सुख और प्रीति-इन सबकी विशेष वृद्धि हो, ऐसा आहार सात्त्विक होता है, जो सात्त्विक मनुष्यों को रूचिकर होता है।^[32] सात्त्विक भोजन से अनेक सुखों की प्राप्ति होती है-

सात्त्विक शाकाहारी भोजन से प्राप्त सुख	तामसिक माँसाहारी भोजन से प्राप्त दुःख
शाकाहारी भोजन सस्ती होने के कारण आर्थिक दृष्टि से लाभकारी होता है।	माँसाहारी भोजन महंगी होने के कारण आर्थिक दृष्टि से दुःखदायी होता है।
शाकाहारी भोजन सर्वकालिक सर्वत्र सुलभ होता है।	माँसाहारी भोजन सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता है।
शाकाहारी भोजन बच्चे-बुढ़े, रोगी-निरोगी सब का प्रिय भोजन होता है।	माँसाहारी भोजन बच्चे-बुढ़े, रोगी का भोजन नहीं है।
शाकाहारी भोजन संक्रामक नहीं होता है। जिससे शरीर निरोग होता है।	माँसाहारी भोजन संक्रामक होता है। जिससे शरीर रोग ग्रस्त होता है।
शाकाहारी भोजन अहिंसा से प्राप्त होने के कारण धार्मिक दृष्टि से पुण्य का भागी होता है।	माँसाहारी भोजन हिंसा से प्राप्त होने के कारण धार्मिक दृष्टि से पाप का भागी होता है।

भोजन को ही सब कुछ मत समझ लेना। आहार बड़ी चीज है, आहार का बड़ा व्यापक अर्थ है। आहार का अर्थ, जिसे बाहर से भीतर लिया जाय-आहार। निश्चय ही, तुम जो बाहर से भीतर ले जाओगे, वह तुम्हारे स्वरूप पर आच्छादित होगा। भीतर जो है वह तुम्हारा स्वरूप है। धूल ले जाओगे तो धूल आच्छादित हो जाएगी। स्वर्ण ले जाओगे तो स्वर्ण आच्छादित हो जाएगा। जो भी तुम बाहर से भीतर ले जाओगे वही तुम्हारे चित्त के दर्पण पर जमेगा और उससे ही तुम्हारा जीवन निर्धारित होगा। कैसे इसकी शुद्धि हो? आहार तो करना ही होगा। आँखें देखेगी ही; कम देखें ज्यादा देखें, लेकिन देखेगी ही। तो वही देखना जो देखने योग्य है, सुंदर है, प्रीतिकर है, आल्हादित करता है।

आहार-शुद्धि का अर्थ है: अपने भीतर वही ले जाना, जो प्रीतिकर हो, स्वादिष्ट हो, सुमधुर हो, सुंदर हो, सत्य हो। ताकि तुम्हारे भीतर के स्वरूप पर श्रृंगार आए, जवानी आए, ताकि तुम्हारे भीतर स्वरूप निखरे, प्रकट हो; उस पर उभार आए, गर्द-गुबार न जम जाए। और उसी आहार में एक छोटा-सा हिस्सा भोजन है। जरूर उसका भी विचार करना, लेकिन वही सब कुछ नहीं है। इतना ही विचार काफी है कि अपने भोजन के लिए किसी को कष्ट मत देना, दुःख मत देना। जब भोजन बिना किसी को दुःख दिए हो सकता हो तो पशुओं को काटना और मारना अनुचित है। जब फल और सब्जियाँ और अनाज तुम्हारे लिए परिपूर्ण पौष्टिक हो जाते हों, तो क्या जरूरत है कि पशुओं को मारो? क्या जरूरत है चोरी, डाका, बैमानी, घुसखोरी, करने की क्या जरूरत है इतना

दुःख देने की? और अगर इतना दुःख तुम दोगे तो स्वाभावतः तुम कठोर होते चले जाओगे। माँसाहारी कठोर होगा ही, नहीं तो माँसाहार कैसे करेगा? और जब कठोर होगा तो मनुष्यों के साथ भी कठोर होगा। कठोरता कोई नियम थोड़े ही मानती है कि इसके साथ कठोर होंगे, उसके साथ कठोर नहीं होंगे। और जब कठोर होगा तो अपनों के साथ भी कठोर होगा, परायों के साथ भी कठोर होगा। और जब कठोर होगा तो अपनों के ही साथ नहीं, अपने साथ भी कठोर होगा। कठोरता तो एक भीतर बैठ गई चट्टान की तरह है। सबसे पहले तो खुद के प्रति कठोर हो जाएगा, दुष्ट हो जाएगा। कठोर होओगे ही।

क्या भोजन कर रहे हो उसमें इतना ही विचार पर्याप्त है कि हिंसा न हो, अकारण हिंसा न हो। कम से कम हिंसा हो, न्यूनतम हिंसा हो। जितना हिंसा से बचा जा सके, शुभ है, ताकि तुम्हारी कोमलता नष्ट न हो जाए। सवाल अहिंसा का नहीं है, सवाल आपकी कोमलता का है। असली बात इतनी है कि तुम्हारी कोमलता न मर जाए। क्योंकि तुम्हारी कोमलता के द्वार से ही सत्य का पदार्पण होगा। तुम जितने कोमल होओगे उतनी ही संभावना है कि तुम्हारे भीतर आनंद का गीत उठे, उत्सव जगे, पर परमात्मा तुम्हारे भीतर बांसुरी बजाए। उसके लिए तुम्हारी कोमलता जरूरी है। यह कोई मच्छर-मक्खी मारने का सवाल नहीं है, सवाल तुम्हारी कोमलता का है।

ध्यान रहे कि किसी को अकारण कष्ट न हो। क्योंकि कष्ट दोगे तो कठोर हो जाओगे। कठोर हो जाओगे तो बंद हो जाओगे। बंद

हो जाओगे तो परमात्मा को पाना असंभव है। फूल जैसी कोमलता चाहिए, ताकि परमात्मा तुम पर यूँ उतरे जैसे शबनम की बूंदें सुबह फूल पर जम जाती हैं; जैसे ओस के मोती फूल की कोमल पंखुड़ियों पर चमकते हैं। ऐसा तुम पर, वह जो दिव्य अवतरण है, संभव हो सके! मगर फूल की पंखुड़ी चाहिए। फूल जैसे रहना! तब परमात्मा ओस रूपी आशीष देंगे और तुम दिव्य हो जाओगे। और तुम जो भीतर ले जा रहे हो, अगर यह शुद्ध है तो तुम्हारे भीतर जो छिपा हुआ स्वरूप है, वह ढकेगा नहीं; उघड़ेगा, निखरेगा, ताजा होगा, नहाएगा—सद्यः स्नात! और जिसने अपने भीतर के सत्व को शुद्धता में जान लिया है, उसकी स्मृति ध्रुव हो जाती है।

स्मृति शब्द को याद रखना। स्मृति उस अर्थों में प्रयोग नहीं हो रही, जिस अर्थों में करते हैं—याददाश्त के अर्थों में नहीं, मेमोरी के अर्थों में नहीं। क्योंकि वैसी स्मृति तो कंप्यूटर में भी होती है, उसके लिए आदमी होना जरूरी नहीं है। कंप्यूटर ज्यादा याददाश्त वाला होता है। और उसकी याददाश्त में कम भूलें होती हैं, हमसे तो भूलें हो सकती हैं। अब तो मशीनें बन गई हैं जो सब याद रख लें। अब तो तुम्हें कुछ याद रखने की जरूरत नहीं है। तो काम मशीन कर देती है, उस काम में कोई गुणवत्ता नहीं है।

फिर स्मृति से क्या अर्थ ? ध्रुवा स्मृति! इसे ऐसी स्मृति उपलब्ध हो जाती है—अडिग, अचल, चंचलता से शून्य, स्थिर। यह बड़ा अलग अर्थ है स्मृति का। बुद्ध ने इसके लिए उपयोग किया है—सम्मासती। महावीर ने इसको कहा है—सम्यक स्मृति। दोनों का एक ही अर्थ है; सम्मासती पाली है, सम्यक स्मृति संस्कृत। ठीक—ठीक बोध। स्मृति से याददाश्त का सवाल नहीं है, स्मरण का सवाल है—अपना स्मरण, आत्म—स्मरण। तुम भूल गए हो कि तुम कौन हो। तुम्हें याद ही न रहा कि तुम कौन हो, किसलिए हो, कहाँ से आए हो, कहाँ जा रहे हो! तुम्हें कुछ भी पता नहीं। महर्षि पतंजली कहते हैं कि संस्कारों का साक्षात्कार कर लेने पर उसे अपने पूर्वजन्मों की स्मृति हो उठती है।^[33] आत्म—स्मरण (अपने आप का स्मरण) का नाम स्मृति: है। इसी सम्मासती, सम्यह स्मृति को मध्य—युग के संतो ने—कबीर ने, नानक ने, दादू ने, रैदास ने, फरीद ने—सुरति कहा है। सुरति सम्मासती का ही रूप है लोकभाषा में—और भी प्यारा हो गया! सम्यक स्मृति थोड़ा कठिन, सुरति सीधा—साफ हो गया।

जब कुछ भी न बचेगा याद करने को, तभी अपनी याद आएगी। जब तक कुछ और बचेगा, तब तक याद उसी में उलझी रहेगी। याद रहे संसारीक वस्तु से जितना दूर रहोगे उतना ही ईश्वर के नजदीक रहोगे। सारे शब्दों से मुक्त होना है, ताकि निस्तब्धता छा जाए, ताकि मौन उतर आए, ताकि भीतर सन्नाटा हो। उसी सन्नाटे में अपनी स्मृति आएगी। खुद को जानोगे तब खुदा को जानोगे। और जिसको अपनी सुरति आ गई, जिसको अपना स्मरण आ गया, उसकी सारी ग्रंथियाँ टूट जाती हैं। वे सभी ग्रंथियों से मुक्त हो जाता है। सारी ग्रंथियाँ टूट कर गिर जाती हैं, जैसे जंजीरें टूट कर गिर गई हों किसी कैदी की।

माँ के गर्भ में उठा रहे कष्टों, शमशान भूमि में जल रहे शरीर को या रोग से कराहते रोगी को देखते या धार्मिक प्रवचनों को सुनते जो आत्मज्ञान होता है वह स्थिर हो जाय तब भी मानव बहुत से बन्धनों से मुक्त हो जायेगा।

आहार अर्थात् जो बाहर से भीतर आता है। स्मृति अर्थात् आत्म—स्मृति। ग्रंथिका वे सब आकांक्षाएँ जो तुम्हें बांधे हुए हैं; वासनाएँ जो तुम्हें बांधे हुए हैं; गांठें जिनमें तुम उलझ गए हो। जैसे मछली जाल में फंसी हो और तड़फती हो। जिसकी सारी ग्रंथियाँ टूट जाती हैं, उसका मुक्ति है, उसका ही मोक्ष है।

आज के समय की बहुत—सी समस्याओं का हल केवल अन्न की शुचिता से हो सकता है। बस, आवश्यकता है कि व्यक्ति शुद्ध अन्न ग्रहण करने का निर्णय कर ले तो इससे उसके अंदर अनेक सद्गुण स्वयं ही आ जायेंगे, उसकी इच्छाओं की अनन्तता पर

सहज ही अंकुश लग जायगा, उसकी आवश्यकताएँ भी अपने—आप सीमित हो जायेगी। यह सब होने पर वह सहज रूप से सदाचार में प्रवृत्त रहेगा। उसे छल—कपट—बेईमानी से धन कमाने की लालसा ही नहीं होगी। घर का मुखिया यदि सदाचार में प्रवृत्त होगा तो उसका पूरा परिवार सदाचार की प्रेरणा प्राप्त करेगा। परिवार से समाज में और समाज से राष्ट्र में सदाचार व्याप्त हो जायगा। एक बात और, शुद्ध अन्न के सेवन से अनेक प्रकार रोगों से भी छुटकारा मिल जाएगा और थोड़े सेवन से अधिक तृप्ति मिलेगी।

यह मानव—शरीर परमात्मा का ही मन्दिर है। इसमें ईश्वर—अंशरूपी जीव का वास है। उसे यदि शुद्ध—शुचितापूर्ण भोजन का नैवेद्य दिया जायगा तो भीतर बैठा परमात्मा अतीव प्रसन्न होगा। वैसे भोजन भी एक प्रकार का यज्ञ ही है। मनुष्य द्वारा ग्रहण किये गये भोजन उसकी जठराग्नि में हवन होता है, जिसे वहाँ विद्यमान यज्ञपुरुष परमात्मा ग्रहण करता है। इसके लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है—मैं समस्त प्राणियों के शरीर में जठराग्नि रूप में स्थित होकर श्वास—प्रश्वास को सन्तुलित रखते हुए चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।^[35] अन्न की शुचिता के साथ एक बात और महत्वपूर्ण है, वह है अन्न का संस्कार। अन्न यद्यपि शुद्ध हो तो भी उसका संस्कार होने से मणि—कांचनयोग हो जाता है। यह तो आवश्यक है ही कि अन्न सदाचार से कमाया गया हो, लेकिन उसका संस्कार भी आवश्यक है।

जो व्यक्ति शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करता है और मनमानी करता है, वह न तो सफलता को प्राप्त होता है, शान्ति को और न ही मोक्ष को प्राप्त होता है।^[36] वस्तुतः मनुष्य को सही मानव या शान्त, सुशिक्षित, शीलवान् एवं सभ्य मानव बनाने में संस्कारों की प्रमुख भूमिका होती है। शारीरिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पुष्ट एवं परिपूर्ण बनाने तथा मानवता सिखाने के सशक्त, सार्थक एवं समर्थ साधन या माध्यम संस्कार ही होते हैं।^[37]

भोग से मुक्त होता है—वैदिक ऋषियों ने खूब सोच—समझ कर एक अनोखे तौर पर भोग तथा त्याग के बीच का मार्ग अपनाते हुए कहा कि हे मानव! संसार का सम्पूर्ण भोग्य—पदार्थ तेरे पिता परमात्मा का है। यह वैभव उसका है, उसका समझ कर इसका उपभोग कर, जैसे तुझे मिला है वैसे किसी दिन तुझ से छूट भी जाना है—यह समझ कर, इसे अपना न समझ कर उपभोग कर, त्यागपूर्वक उपभोग कर, निवृत्तिपूर्वक प्रवृत्त हो, जब छोड़ने की घंटी बजे तब छोड़ने के लिए तैयार रहकर उपभोग कर।^[38]

प्लेटो कहते हैं कि आत्मा की मुक्ति केवल ज्ञान से ही सम्भव है; यह तभी सम्भव है जब बुद्धि ईरोस, यूनान के प्रेम के देवता (जिसे भारत में कामदेव कहा जाता है) जिसे कामवासना भी कहते हैं, द्वारा मार्गदर्शन पाती है। यह कामवासना प्रेम और वात्सल्य की जनक होती है जिसके कारण ज्ञान का उदय होता है।

काम से मुक्त होता है—भारतीय संस्कृति में काम के सेवन को वासना के स्तर से उठाकर इसे आध्यात्मिक स्तर प्रदान करने की भावना प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार ईश्वरार्पण बुद्धि से काम का सेवन^[39] विगत काम या वितृष्ण होने पर ही ब्रह्म साक्षात्कार या मोक्ष प्राप्त करता है।^[40] किन्तु जब तक कामसुख का अनुभव नहीं करता, तब तक वितृष्णा (विरक्त) नहीं हो पाता।^[41] काम का सेवन करने पर ही वह उससे वितृष्ण (विरक्त) हो पाता है।^[42] अतः मोक्ष प्राप्ति हेतु विरक्त की भावना आवश्यक है और यह विरक्ति दाम्पत्य जीवन में कालक्रमानुसार स्वयं आ जाती है। श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार विषयों का अनुभव कर लेने पर विरक्ति स्वयं होती है; वैसी किसी अन्य के द्वारा समझाये जाने पर नहीं होती।^[43] स्कन्द पुराण के अनुसार नर—नारी को एक—दूसरे के रूप और यौवन का जो आकर्षण पहले रहता है वह वृद्धावस्था में समाप्त हो जाता है।^[44] नारद पुराण में स्पष्टतः कहा गया है कि पत्नी पुरुष को पाप करने

तथा नरक में गिरने से बचाती है।^[45] श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार अनासक्त भाव से कर्म करने वाले तथा ईश्वरकथानुकीर्तन करने वाले व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम बन्धन-कारक नहीं होता।^[46] भागवत महापुराण में यह भी कहा गया है कि मोक्ष प्राप्ति हेतु गृहस्थाश्रमी अपने कर्तव्यों का ईश्वरार्पण बुद्धि से सम्पादन करे और भगवान के अवतारों की कथा सुनने तथा समत्व में अवस्थित सन्तों के संग में काल-यापन से वह पत्नी-पुत्रादि के प्रति आसक्ति रहित होकर, हृदय से विरक्त होने पर भी देह-गेह आदि के प्रति लोक व्यवहार का निर्वाह रागी पुरुषों के समान ही करते रहे।^[47] अग्नि पुराण^[48] ; गरुड पुराण^[49] तथा विष्णु पुराण^[50] में अनेकत्र यह प्रतिपादित है कि स्वधर्म का पालन करने वाला गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त करता है। इस तरह भारतीय वाङ्मय में मोक्ष प्राप्ति हेतु भी दाम्पत्य जीवन प्रशस्त बतलाया गया है।

सारांश-

गर्भाधान संस्कार कराने से दम्पति धर्मानुसार आचरण करते हैं, जिससे उनका जीवन प्रेममय होकर शारीरिक एवं मानसिक सुख के साथ सुसंतान को प्राप्त करते हैं जो दम्पति के अनुकूल तथा सुखकर होता है। इस प्रकार से दम्पति को इस जीवन में सुख-शांति मिलता है। अच्छे आचरण के कारण परिवार, समाज में भी स्नेह-सम्मान मिलता है। धर्माचरण से अगले जन्म में भी अच्छे योनी में जन्म होता है और काम से मुक्त होता है उक्त संस्कार से तलाक का अंत एवं सुखी परिवार की स्थापना होती है। सुख-शांति प्राप्त करता है क्योंकि संसारिक तपों (दुखों से) जले हुए का तीन ही शांति के कारण है-पत्नी, पुत्र और सज्जनों की संगति। राम कृष्ण आदि के कारण उनके माता-पिता प्रसिद्धि हो गये। संतानहीन का प्रातः दर्शन अशुभ मानते हैं। इससे दम्पति को मानसिक कष्ट होता है। लेकिन संतानयुक्त दम्पति मानसिक रूप से प्रसन्न होते हैं। भारतीय वाङ्मय में मोक्ष प्राप्ति हेतु भी दाम्पत्य जीवन प्रशस्त बतलाया गया है।

गृहस्थाश्रम में आकर वह स्वार्थ का पाठ भुलता जाता है, अपने बच्चों की इच्छाएँ, उनकी जरूरतें ही उसकी इच्छाएँ और उसकी जरूरतें बन जाती हैं। अपने संतान की तरह ही अन्य बच्चों के साथ भी त्याग भाव से व्यवहार करते हैं। इस प्रकार योग्य इन्सान बनने के साथ स्वार्थ का अन्त हो जाता है। ऋणों से मुक्ति स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण, यज्ञ-साधन द्वारा देव-ऋण और पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से सदगृहस्थ मुक्त होते हैं। अतः गर्भाधान संस्कार (पुत्रेष्टियज्ञ) करने से देवऋण, यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म के ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार करने से ऋषिऋण और दिव्य संतान उत्पन्न करने से पितृऋण से उऋण होते हैं। तीनों प्रकार के ऋणों से एक गर्भाधान संस्कार (पुत्रेष्टियज्ञ) से ही अदा होते हैं।

आहार शुद्धि से छल-कपट-बेईमानी, भ्रष्टाचारादि, अन्याय, चोरी, डकैती का अन्त होता है क्योंकि पवित्र भोजन करना है। भोजन की शुद्धि शरीर स्वस्थ निरोग होता है और सत्त्व की शुद्धि होती है और अन्तःकरण निर्मल एवं पवित्र हो जाता है। सत्त्व की शुद्धि होने पर स्मृति (अपना स्मरण, आत्म-स्मरण) दृढ़ हो जाती है और स्मृति के ध्रुव (अडिग, अचल, चंचलता से शून्य, स्थिर) हो जाने पर हृदय की ग्रन्थियों (सन्देह दुविधा, अस्थिरता, आकांक्षाएं, वासनाएं, उलझन) का भेदन होता है और मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

निष्कर्ष-

गर्भाधान संस्कार करने की इच्छा मात्र से धार्मिकता का विकाश एवं भौतिकता नाश होता है। एक सुसंतानोत्पत्ति के लिए ध्यान आकृष्ट करता है तो शारीरिक स्वास्थ्य पर भी ध्यान देते हैं। जिससे दम्पति के खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार में

सुधार होता है और सभी प्रकार के सुखों को प्राप्त कर लेते हैं तथा मौक्ष को भी प्राप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं यह संस्कार वाजपेय यज्ञ का फल देता है। यहाँ तक कि एक मात्र भोजन को पवित्र कर लें तो बहुत सें सुखों को प्राप्त कर लेते हैं और मुक्ति को पा लेते हैं। उक्त संस्कार हमें तीनों प्रकार के ऋणों से मुक्त कराता है। यह संस्कार काम से संबंधि जो भी अपराध है उससे बचाता है। परिवार समाज में आदर और सम्मान दिलाता है और संस्कारी कहलाता है। देश को एक योग्य परिवार समाज के साथ सुयोग्य मानव संसाधन प्रदान करता है। इससे तनिक भी हानी या दुःख नहीं होता है। इसलिए सभी को अति श्रद्धा भक्ति से उक्त संस्कार का आयोजन कर सर्व सुखों को प्राप्त करना चाहिए।

संदर्भ सूची-

1. तद्ये ह प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।। प्रश्नोपनिषद्-प्रथमः प्रश्नः १५।। तत्=इस संसार में, चरन्ति=करते हैं, ह=निश्चय करके, ते=वह, ये=जो पुरुष, मिथुनं=पुत्र पुत्री रूप जोड़े को, प्रजापतिव्रतं=ऋतुकाल में उत्पादयन्ते=उत्पन्न करते हैं और, संयोगरूप व्रत को, येषां=जिनका, तपः=तितिक्षा तथा, प्रतिष्ठितं=वर्तमान है, ब्रह्मचर्यं=इन्द्रियसंयम पूर्वक, तेषां, एव=उन्हीं का वेदाध्ययन है और, एषः=यह, सत्यं=सत्य, येषु=जिनमें, ब्रह्मलोकः=ब्रह्मलोक है
2. "तस्या वेदिरूपस्थो लोमानि बहिश्चर्माधिवृषणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति"..... ; बृहदारण्यक-उपनिषद्; अध्याय-षष्ठं; ब्रह्मण-तीसरा;-तस्याः-उस (स्त्री) की; वेदिः-(पुत्रेष्टि) यज्ञ का स्थल; उपस्थः-स्त्री-योनि है; लोमानि-रोम; बहिः-कुशा; चर्म-अधिवृषणे-मृग-चर्म और अधिवृषण; समिद्धः-प्रदीप्त; मध्यतः-मध्य भाग में; तौ-वे दोनों; मुष्कौ-अण्ड-कोष; सः वह; यावान्-जितना; ह वै-निश्चय से; वाजपेयेन-वाजपेय (यज्ञ) से; यजमानस्य-यज्ञ-कर्ता का; लोकः-स्थिति, फल-प्राप्ति; भवति-होता है; तावान्-उतना ही; अस्य-इसका; लोकः-स्थान, फल; भवति-होता है;
3. संस्कारैः संस्कृतः पूर्वरुतरैरनुसंस्कृतः। नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्रह्मणो ब्रह्मलौकिकः।। ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्नच्यवते पुनः।। आचार्य शंख
4. स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वापत्यं प्रतिष्ठितम्। धर्मार्थो स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।।; चरक संहिता
5. या पतिं हरिभावेन भजेच्छीरिव तत्परा। हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते।।; श्रीमद्भागवत ७/११/२६
6. उपाध्यायानां दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रन्तु पितृन्माता, गौरवेणातिरिच्यते।।; मनुस्मृति; अध्याय-२; श्लोक-१४५
7. नास्ति मातृसमो गुरुः।
8. भार्यामूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च"
9. न च भार्यासमं किंचिद् विद्यते भिषजां मतम्। औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।। महाभारत; वनपर्व
10. सन्तुष्टो भार्या भर्ता, भर्ता भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।; मनुस्मृति
11. हदीस तिरमजी खण्ड १, पृष्ठ ४२८ संदर्भ-इस्लामः कामवासना और हिंसा ; लेखकः-अनवर शेख; पृष्ठ-३५
12. ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनापाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो ब्रजत्यधः।; मनुस्मृति; अध्याय-६; श्लोक-३५ अधीत्य विधिवद्देवान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।।; मनुस्मृति; अध्याय-६; श्लोक-३६
13. पारसी लोग अग्नि की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। वे लोग अग्नि में ईश्वर व उसकी शक्ति का सर्वोच्च प्रादुर्भाव व प्रकाश

- मानते हैं। यसन 320-1 का शीर्षक है कि पारसी के ईश्वर "अग्नि अहुरमजदा (जन्दवस्ता के भी ईश्वर) का चिह्न है। जो उसकी प्रज्वलित शिखा में प्रकट होता है। ईसाई ईश्वर को सजीव अग्नि बताता है। जो पवित्रात्मा के उतरते समय अग्नि की जिह्वा व मूसा की जलती हुई झाड़ियों की बात कहता है। वह भी वैसा ही अग्नि उपासक है। बाइबिल भी जन्दावस्ता के अनुसार ईश्वर को अग्नि रूप में वर्णन करता है। बाइबिल में लिखा है "यात्रा की पुस्तक 24-17 "इसराईल के संतान की दृष्टि में पर्वत की चोटी पर ईश्वर के तेज का दृश्य विकराल अग्नि के समान था। पंजनामे में लिखा है-सधारणतया परमेश्वर अग्नि के बीच में प्रकट होता है।" धर्म का आदि स्रोत [THE FOUNTAIN HEAD OF RELIGIONS] लेखक-रिचार्ड चीफ जस्टिस, टिहरी गढ़वाल राज्य तथा भूतपूर्व प्रोफेसर मेरठ कॉलेज तथा प्रधान आर्य समाज सार्वदेशिक सभा, दिल्ली। अनुवादक-पंडित हरिशंकर शर्मा
14. ओ३म् इषेत्वर्जे.....श्रेष्ठतमाय कर्मण ...।; यजुर्वेद; प्रथमोऽध्याय; मंत्र-9
 15. इति वेदैरपि प्रोक्तं पुत्रमाहात्म्यमुत्तमम्। तस्मात्पुत्रमुख दृष्ट्वा मुच्यते पैतृकादृणात् ॥११॥ गरुडपुराण-सारोद्धार प्रकरण;
 16. पौत्रस्य स्पर्शान्मर्त्यो मुच्यते च ऋणत्रयात्। लोकानत्येद्विदः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः ॥१२॥ गरुडपुराण-सारोद्धार प्रकरण;
 17. सर्वर्षेभ्यः सर्वर्षासु ये पुत्रा औरसाः खग। त एव श्राद्धदानेन पितृणां स्वर्गहेतवः ॥ १४ ॥ गरुडपुराण-सारोद्धार प्रकरण;
 18. अथ यो वाव लोकाः। मनुष्यलोकः, पितृ लोकः देव लोकः। मनुष्य लोकः पुत्रेणैव जय्यः नान्येन कर्मणा ॥ कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देव लोकः। देवलोकः वै लोकानां श्रेष्ठस्तरस्मात् विद्यां प्रशंसन्ति ॥; बृहदारण्यक उपनिषद् पंचम ब्राह्मण; कण्डिका-१३
 19. स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ गीता; अध्याय-२; श्लोक-४०
 20. न हि कल्याण कृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति। गीता; अध्याय-६; श्लोक-४०
 21. अविशेषण मिथुनाः पुत्रा दायद इति।; निरुक्त; यास्काचार्य
 22. अविशेषण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ मनुस्मृति
 23. पुण्य तीर्थे कृतं येन तपः क्वापि सुदुष्करम्। तस्य पुत्रो भवेत् वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥
 24. विद्यवान् नीतिमान् वाग्मी सदाचारो महामतिः। विधेयः सुभगः पुत्रो यस्य तेन जितं जगत् ॥
 25. "अनुव्रतः पितुत्र पुत्रो माता भवतु संमनाः।" अथर्ववेद
 26. संसारताप दग्धानां, त्रयशांति हेतवः। अपत्यं च कलत्रं च सतां संगतिरेव च ॥
 27. संस्कार-चन्द्रिका; संस्कारविधि की वैज्ञानिक व्याख्या; व्याख्याकार-डॉ सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार; पाठ-वानप्रस्थ संस्कार-विवेचनात्मक; पृष्ठ-४७३
 28. सत्यार्थप्रकाश; महर्षि दयानन्द सरस्वती; पृष्ठ- २०
 29. हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमाम्। समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥
 30. "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।" छान्दोग्य उपनिषद् ७/२६/२)
 31. 'रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥'; अथर्ववेद
 32. आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ गीता; अध्याय-१७; श्लोक-८
 33. संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ।; योगदर्शन; महर्षि पतंजी; अध्याय-३ सूत्र-१८
 34. अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ गीता; अध्याय-१५; श्लोक-१४
 35. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न शान्तिं न परां गतिम् ॥
 36. संस्कारशौचेन परमपुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥
 37. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥;
 38. यजुर्वेद; अध्याय-४०; मंत्र-०१ ईश्वर सब जगह है। धन किसी का नहीं है इसे त्यागपूर्वक भोग कर।
 39. श्रीमद्भागवत पुराण; १०/२२/२६
 40. बहदारण्यकोपनिषद्; ४/४७
 41. श्रीमद्भागवत पुराण; ९/१८/४०
 42. श्रीमद्भागवत पुराण; ६/११/३४
 43. श्रीमद्भागवत पुराण; ६/५/४१
 44. स्कन्द पुराण; १/२/४२/९५
 45. नारद पुराण; उ० २८/५३-५४
 46. श्रीमद्भागवत पुराण; ४/३०/१९
 47. भागवत महापुराण; ७/१४/१-५
 48. अग्नि पुराण; ३७६/४४
 49. गरुड पुराण; पू० १०९/४३
 50. विष्णु पुराण; ३९/१७